स्वामी विवेकानंद की जयंती के उपलक्ष में
५०वीं अंतर-शालेय वक्तृत्व प्रतियोगिता - २०२४

हिंदी

रामकृष्ण मिशन
१२ वाँ रास्ता, खार पश्चिम, मुंबई ४०००५२
टेलीफोन : ०२२-६१८१८०००/६१८१८००२

हिंदी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)
विशेष सूचना :
१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।
२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।
३. निर्णायकों का मूल्यांकन
(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

नरेन का आध्यात्मिक झुकाव

एक कहावत है, 'जैसी सुबह वैसा दिन'। उसी प्रकार एक बालक के गुणों को देख-परख कर उसके भावी जीवन का पूर्वाभास मिल जाता है। नरेन के विषय में यह कहा जा सकता है कि बचपन से ही वह होनहार था। अपने सुगठित सुन्दर शरीर, गौरवर्ण, बड़ी-बड़ी उज्वल आँखों से तथा उभरती प्रतिभा से चमकते मुख से वह सहज ही सबका प्रिय बन जाता था। अनेक स्वप्नों से भरा मानस, प्रेम से परिपूर्ण हृदय, कुशाग्र बुद्धि, असीम साहस, विस्मयकारी मौलिक प्रतिभा, कार्य करने की अकथनीय क्षमता तथा अदम्य उत्साह- इन गुणों का धनी नरेन, बाल्यकाल से ही अद्वितीय था। सर्वोपरि, भगवान के प्रति उसका स्वाभाविक अनुराग था। बचपन से ही वह ध्यान करने में निपुण था एवम् भगवान की पूजा-अर्चना और ईश्वर की खोज करने में उसे आनन्द मिलता था।

१२ जनवरी १८६३ में सोमवार के दिन नरेन (भावी स्वामी विवेकानंद) का जन्म हुआ था।

उस दिन मकर संक्रान्ति थी, जो हिन्दुओं का एक बड़ा पर्व है। पर्व मना रहे लाखों नर-नारियों ने उस दिन अनजाने ही प्रार्थना तथा अर्चना से नवजात शिशु का स्वागत किया। वे लोग इस तथ्य से अनजान थे कि जिस शिशु का अभी जन्म हुआ है, वह अपने राष्ट्र के लिए एक गौरवशाली नया युग लानेवाला है, जो भारत की आध्यात्मिक एवम् राष्ट्रीय चेतना को पुन: संगठित करेगा और आगे चल कर समस्त विश्व को मुक्ति का संदेश अर्थात वेदान्त का सन्देश देनेवाला एक महान दूत बननेवाला है।

जब नवशिशु के नामकरण का समय आया तो इस विषय पर काफी चर्चा

होने लगी। लोगों ने जब शिशु की माँ से पूछा तब वे पहले शिशु की आँखों की गहराई में देखने लगीं मानों उसकी अन्तरात्मा को देख रही हों। कुछ पल के लिये एक अद्भुत शान्ति छा गई, फिर उन्होंने अत्यन्त भावभरी वाणी में कहा, ''इसका नाम विरेश्वर रखा जाये।'' यह सुन कर सब आश्वस्त हुए और उसे 'बिले' पुकारने लगे। आगे चलकर यह बालक नरेंद्रनाथ या नरेन कहलाया।

जब माँ भुवनेश्वरी अपनी गोद के सुंदर स्वस्थ शिशु के मुख को अपलक निहारती थीं, उनका हृदय गर्व से भर जाता था और उनकी आँखों से हर्ष के आँसू बहने लगते थे, क्योंकि अनेक प्रार्थनाओं के प्रसादरूप प्राप्त, चिरवांछित उनका लाड़ला पुत्र अन्ततः उनकी गोद में था। लेकिन यह बालक कोई साधारण बालक नहीं था, उसके अन्दर एक प्रबल शक्ति निहित थी और उसकी अदम्य चंचलता को संयमित करने में माँ को अत्यन्त कठिनाइ का सामना करना पड़ता था। अभी वह मुश्किल से तीन वर्ष का भी नहीं हुआ था पर उधम मचाने की वजह से उसके विरुद्ध शिकायतें आने लगी थीं।

नरेन्द्रनाथ एक नटखट बालक था। उधम का भूत सवार होने पर वह काबू के बाहर हो जाता था। ऐसे मौकों पर वह सारे घर को थका देता था। लालच, धमकी, सभी कुछ आज़माने पर भी कुछ भी साध्य नहीं होता था। अन्ततः माँ भुवनेश्वरी ने देखा कि यदि चिल्लाते बालक पर वह ठन्डा पानी डालते हुए साथ में 'शिव-शिव' नाम का जाप करती थीं, अथवा उसे यह कह कर धमकाती थीं ''अगर तूने उधम मचाना बन्द नहीं किया तो शिवजी तुझे कैलास में नहीं आने देंगे'', तो वह शान्त हो जाता था और पुनः मस्त तथा हँसमुख बन जाता था। ऐसे प्रसंगों के बाद माँ कहा करती थीं, ''मैंने तो शिवजी से एक पुत्र के लिये प्रार्थना की थी और उन्होंने मेरे पास अपना एक भूत भेज दिया।'' ऐसे शरारतपूर्ण प्रसंगों के अलावा नरेन एक प्यारा और दुलारा बालक था।

नरेन की प्रारम्भिक शिक्षा के समय में ही आध्यात्मिक जीवन का पहला बीज बोया गया था। राम और सीता के विषय में वह निरन्तर सुनता रहता था। रामायण की कथाएँ वह तल्लीन हो कर सुनता तथा राम के संघर्ष एवम् विजय की लम्बी कहानी सुनना उसके लिये अत्यन्त रोमांचक, साहसिक अनुभव होता था। परिवार के वयोवृद्ध जनों को पूजा एवम् ध्यान करते देख कर उसे लगा कि उसे भी

राम की पूजा करनी चाहिये। एक दिन वह और एक ब्राह्मण बालक हरि, राम-सीता की मिट्टी की मूर्ति खरीद लाये। जब कोई आसपास नहीं दिखा तो वे लोग सीढ़ियाँ चढ़ कर छत के एक कमरे में गये। दरवाज़ा भलीभाँति बन्द करके उन्होंने मूर्ति की स्थापना की तथा ध्यान लगा कर दोनों बैठ गये। इस बीच दोनों बालकों के मातापिता का ध्यान इस ओर गया कि बहुत देर से दोनों दिख नहीं रहे हैं, फिर तो ढूँढ़ना शुरू हुआ। अन्ततः छत पर बन्द कमरे तक लोग पहुँचे। ढूँढ़ने वालों ने दरवाज़ा खटखटाया, चिल्लाये, लेकिन कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला। आखिर में उनके ज़ोरदार मुक्कों से कुन्डी टूट गई और दरवाज़ा खुल गया। हरि, जिसका ध्यान पहली डरावनी आवाज़ पर ही टूट गया था, डर कर सीढ़ियों से नीचे भाग गया। परंतु नरेन को कुछ भी सुनाई नहीं दिया। फूलों से सजी मूर्ति के सम्मुख वह ध्यानस्थ स्थिर बैठा हुआ था। नाम से पुकारे जाने पर भी जब उसने उत्तर नहीं दिया तब उसे हिला कर ध्यान से बाहर निकालने का प्रयत्न किया गया, परन्तु उसने दृढ़ता से कहा कि उसे अकेला छोड़ दिया जाये। अतः उन लोगों ने उसे वैसे ही रहने दिया। परन्तु उसका व्यवहार उनकी समझ के परे था क्योंकि वह उसकी आयु के अनुरूप नहीं था।

इसके कुछ दिन बाद ही घर के कोचवान ने नरेन के बालहृदय को अशान्त कर दिया। एक दिन जब नरेन अस्तबल में था तो विवाह के बारे में चर्चा होने लगी। कोचवान को विवाह प्रसंग असहनीय था। कुछ कटु निजी अनुभवों के आधार पर उसने विवाहित जीवन की कठिनाईयों, विडम्बनाओं तथा घोर पराधीनता के बारे में बालक नरेन को बताया और विवाहित जीवन की घोर निन्दा की। नरेन भय से स्तब्ध खड़ा रह गया - मानों विवाह का भयंकर रूप साक्षात उसके सामने हो। उसकी राम-सीता की मूर्ति का क्या होगा ? उन दो पावन विभूतियों के प्रति उसने अपने हृदय का समस्त प्रेम एवम् श्रद्धा समर्पित की थी और परम भक्ति से वह उनकी पूजा करता था। उनके विलक्षण गुणों को वह विशेष आदर से सराहने लगा था तथा उनकी एक दूसरे के प्रति आस्था का वह प्रशंसक बन गया था। परन्तु उस कोचवान ने विवाह के अत्यन्त डरावने पहलू दिखा दिये थे। और राम तथा सीता विवाहित थे- यही उसके लिये पर्याप्त था।

कोचवान के शब्दों तथा सीता-राम की मूर्ति के प्रति नरेन की श्रद्धा के बीच के संघर्ष से उसका हृदय गहरी व्यथा से व्याकुल हो गया और वह रो पड़ा।

बाल्यावस्था का एक सुनहरा सपना चूरचूर हो गया। नरेन स्त्रियों के कक्ष की ओर भागा। माँ ने उसे रोता देख कर उसके दुख का कारण पूछा। पहले तो वह चुप रहा, फिर ज़ोर से सुबकते हुये उसने कहा, ''मैं सीताराम की पूजा कैसे कर सकता हूँ? क्या सीता राम की पत्नी नहीं थी?'' माँ भुवनेश्वरी अपने पुत्र की व्यथा समझ गई। परन्तु उसे सान्त्वना कैसे दे ? तभी शिवजी का ध्यान उनके मन में आया और उन्होंने समझाया, ''तुम शिवजी की पूजा करो।'' माँ के शब्द नरेन के मन में गहराई से अंकित हो गये।

अगले दिन, माँ के दिये पैसों से नरेन ने शिवजी की एक मूर्ति खरीदी। और तुरन्त उसे स्थापित करके शीघ्र ही उसके सामने आँखें बन्द कर के वह ध्यानस्थ होकर बैठ गया।

परन्तु इस घटना ने नरेन के बालहृदय को कितनी व्यथा पहुँचाई। अपने सपने के टूटने के बाद एक बालक का मन उस व्यक्ति से भी अधिक दयनीय हो जाता है, जिसकी समस्त संपत्ति लुट गई हो। इस सब के बावजूद, राम-सीता के प्रति नरेन की भक्ति कभी कम नहीं हुई, तथा रामायण के प्रति उसके मन में गहरा आकर्षण बना रहा।

नरेन अब वैराग्य के देव शिवजी की पूजा करने लगा। बचपन से ही उसे साधु बनने का मोह था। परिवार के कुछ बुजुर्ग लोगों ने मज़ाक में नरेन से कहा कि यदि कोई ध्यान करे तो उसके बाल साधुओं की तरह लम्बे और जटा जैसे हो जाते हैं और बरगद के पेड़ की जड़ों की तरह धीरे धीरे ज़मीन में गहरे समा जाते हैं। ध्यान में मग्न, वह भोला बालक, कभी कभी बीच में आँखें खोल कर देखता कि उसके बाल लम्बे और जटा जैसे हुये हैं या नहीं। जब उसकी आशा पूरी नहीं हुई तो घबरा कर माँ के पास जा कर उसने पूछा, ''मैं ध्यान में तो बैठा था पर मेरे बाल जटा जैसे क्यों नहीं हुये?'' माँ ने उसे समझाया - एक घन्टे या एक दिन में बाल लम्बे नहीं होते हैं। जटा जैसे लम्बे बाल होने के लिये बहुत दिन और बहुत महीने चाहिये। इसके बाद कुछ दिन पहले नरेन ने जो शिवजी की मूर्ति खरीदी थी - उसके बारे में बातचीत होने लगी। उसने माँ से कहा कि वह सुबह मूर्ति के सम्मुख बैठा था, तो माँ के कहे यह शब्द कि क्योंकि वह इतना नटखट है उसे शिवजी से दूर भेज दिया गया है, बहुत ज़ोर से याद आये। एक हिन्दू बालक अनजाने ही पुनर्जन्म को एक सत्य मानने लगता है। इस कारण नरेन ने माँ से कहा, ''मुझे लगता है कि मैं कभी साधु था। अगर मैं अच्छा

बालक बन जाऊँ तो क्या शिवजी मुझे अपने पास बुला लेंगे !'' माँ ने उत्तर में 'हाँ' कहा पर उनका हृदय इस विचार से विचलित हो उठा कि कहीं अपने दादा की तरह वह भी संसार त्याग कर शिवजी के पास न चला जाये। लेकिन माँ ने यह विचार मन से दूर हटा दिया यह सोच कर कि अभी तो बहुत वर्ष पड़े हैं, जब बालक नरेन संसार के समस्त सुखों को असहनीय बोझ मान कर भगवान की भक्ति मात्र में ही आनन्द का अनुभव करेगा।

हिंदी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)
विशेष सूचना :
१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।
२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।
३. निर्णायकों का मूल्यांकन
(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

स्वामी विवेकानंद - एक देशभक्त संत

जब हम स्वामी विवेकानंद के जीवन का अध्ययन करते हैं तब हमें विश्वास हो जाता है कि हर दृष्टि से वे अद्वितीय थे। उनसे अधिक भारत से प्रेम करने वाला या अपने देश पर अभिमान करने वाला अथवा अपने राष्ट्र के हित के लिये काम करने वाला अन्य कोई नहीं था। स्वामीजी के विचारों से हमें भारत के अतीत, वर्तमान एवम् भविष्य का सम्पूर्ण चित्र मिल जाता है। इसी कारण रवीन्द्रनाथ टैगोर ने रोमाँ रोला से कहा था, ''अगर तुम भारत को जानना चाहते हो तो विवेकानंद को पढ़ो।''

एक बार अपने विषय में बात करते समय स्वामीजी ने कहा था, कि वे 'कन्डेन्स्ड इंडिया' (संक्षिप्त भारत) हैं। वास्तव में भारत के लिये उनका प्रेम इतना गहरा था कि अन्ततः वे भारत के मूर्तिमान रूप बन गये थे। भारत के साथ उन्होंने स्वयं को एकाकार कर लिया था। भगिनी निवेदिता ने यही विश्वास व्यक्त करते हुए कहा था, ''उनके हृदय में भारत धड़कता था, उनकी धमनियों में भारत बहता था, भारत उनका दिवा-स्वप्न था,भारत उनका दुःस्वप्न था। वे सशरीर मूर्तिमान भारत थे। वे भारत की आध्यात्मिकता, पवित्रता, बुद्धिमत्ता, शक्ति, उसके आदर्श एवम् भाग्य के प्रतीक थे।''

ई. १८९१ की बात है। स्वामीजी माऊन्ट आबू में एक मुसलमान वकील के साथ रह रहे थे। एक दिन, खेतरी के राजा के निजी सचिव, जगमोहनलाल, उन वकील के बंगले पर आये और वहाँ स्वामीजी , एक हिन्दू संन्यासी, को देख कर उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ । अपने आश्चर्य को छुपा न पाने के कारण जगमोहनलाल ने स्वामीजी से कहा, ''स्वामीजी, आप एक हिन्दू संन्यासी हैं। आप एक मुसलमान के साथ कैसे रह रहे हैं?''

स्वामीजी किसी भी प्रकार के जाति-भेद, धर्म-भेद अथवा संकीर्णता को रंचमात्र भी सहन नहीं कर सकते थे । इस कारण उन्होंने कठोर स्वर में कहा, ''महोदय! आपका क्या आशय है? मैं एक संन्यासी हूँ। आपके सभी सामाजिक लोकाचारों के ऊपर हूँ। अछूत कहे जाने वाले मेहतरों के साथ भी मैं खा सकता हूँ। मैं भगवान से नहीं डरता क्योंकि वह इसका अनुमोदन करता है - मैं शास्त्रों से भी नहीं डरता क्यों कि वे भी इसकी अनुमती देते हैं। मैं केवल आप और आपके समाज से डरता हूँ। आप न भगवान के बारे में कुछ जानते हैं और न शास्त्रों के बारे में। मैं सर्वत्र ब्रह्म को देखता हूँ- निकृष्ट से निकृष्टतम जीव में भी। मेरे लिये ऊँच-नीच जैसा कुछ नहीं है। शिव ! शिव !'' स्वामीजी का हर शब्द जैसे अंगारे बरसा रहा था, और जगमोहनलाल उनके भव्य व्यक्तित्व के आगे मन्त्रमुग्ध से खड़े थे।

एक बार किसी ने स्वामीजी से कहा कि एक संन्यासी को अपने देश से विशेष प्रेम नहीं होना चाहिये। उसको सभी देशों को अपने देश की भाँति मानना चाहिये। स्वामीजी ने उसके उत्तर में कहा, ''जो व्यक्ति अपनी माँ को प्यार और सहारा नहीं दे पाता वह दूसरे की माँ को क्या सहारा दे सकता है।'' स्वामीजी का अभिप्राय था कि संन्यासियों को भी अपनी मातृभूमि से प्रेम करना चाहिये। जो व्यक्ति अपने देश से प्रेम नहीं करता, वह समस्त विश्व को कैसे अपना सकता है। पहले देशप्रेम, बाद में विश्वबन्धुत्व।

स्वामीजी के हृदय में आत्मसम्मान की भावना गहराई से प्रतिष्ठित थी और वे चाहते थे कि सभी भारतीय उनकी तरह अपने आत्मसम्मान के प्रति सतर्क रहें। पाश्चात्य देशों की यात्रा पर जाने के पूर्व का, निम्नलिखित प्रसंग, इसी भावना को स्पष्ट करता है।

स्वामीजी और जगमोहनलाल अबू रोड स्टेशन पर, ट्रेन के बम्बई के लिये चलने की प्रतीक्षा में एक रेल के डिब्बे में बैठे थे। स्वामीजी के एक बंगाली प्रशंसक भी, जो उन्हें बिदा करने आये थे, उस डिब्बे में बैठे थे। इस बीच में, एक युरोपीय टिकिट कलेक्टर वहाँ आया और उसने उन महाशय को ट्रेन से उतर जाने का आदेश दिया। वे महाशय भी एक रेल कर्मचारी थे। उन्होंने टिकट कलेक्टर को समझाने का प्रयत्न किया कि उन्होंने किसी भी प्रकार का गैरकानूनी काम नहीं किया है। परन्तु टी.सी. उनकी बात सुनने को तैयार नहीं था। परिणामस्वरूप काफी गरमागरमी हो

गई। अन्त में स्वामीजी को स्वयं बीच में पड़ना पड़ा। परन्तु उस युरोपीय ने उन्हें साधारण संन्यासी समझ कर धृष्टता से उनसे कहा, ''तुम काहे बात करते हो? तुम किसलिये बीच में पडते हो?''

हिन्दी में 'तुम' शब्द घनिष्ठ मित्रों या निम्नस्तर के लोगों को सम्बोधित करते समय प्रयोग में आता है जबकि 'आप' बराबर वालों या अपने से बड़ों के लिये प्रयुक्त होता है। तिरस्कारपूर्ण 'तुम' शब्द सुन कर स्वामीजी क्रोधित हो उठे। उन्होंने कहा, ''तुम' शब्द से आपका क्या अभिप्राय है? क्या आप उचित रीति से व्यवहार नहीं कर सकते हैं ? आप शिष्टाचार भी नहीं जानते ? आपने 'आप' क्यों नहीं कहा?'' अपनी भूल समझने पर टिकिट कलेक्टर ने कहा, ''मुझे खेद है। मैं हिन्दी भाषा ठीक से नहीं जानता हूँ। मैं तो केवल इस आदमी.... !'' स्वामीजी ने उसे टोकते हुए कहा, ''अभी आपने कहा था कि आप हिन्दी अच्छी तरह नहीं जानते हैं। अब मैं देख रहा हूँ कि आप अपनी भाषा भी ठीक से नहीं जानते हैं। यह आदमी जिसकी आप बात कर रहे हैं, एक सद्गृहस्थ है।'' स्वामीजी ने उस युरोपिय से कहा कि वे उसके अशिष्ट आचरण के विषय में अधिकारियों से शिकायत करेंगे। टिकिट कलेक्टर भयभीत हो डिब्बे से जल्दी चला गया।

जैसे ही टिकिट कलेक्टर गया, स्वामीजी ने जगमोहनलाल से कहा, ''आपने देखा? युरोपिय लोगों से व्यवहार करते समय हमें अपने आत्मसम्मान का ध्यान रखना आवश्यक है। हमें अपनी पद्प्रतिष्ठा के विषय में उसी प्रकार जागरूक रहना चाहिए जैसे और लोग रहते हैं। दुर्भाग्यवश हम यह नहीं कर पाते हैं। इस असफलता के कारण अन्य लोग हम से उपेक्षा-पूर्ण व्यवहार करते हैं। हमें अपने आत्मसम्मान की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिये अन्यथा हम अपमानित और तिरस्कृत होते रहेंगे। याद रखो। कायरता ही भ्रष्टाचार आदि सभी बुराईयों के पनपने का मूलाधार है। भारतीय लोग इस संसार में किसी से भी कम सुसंस्कृत नहीं हैं परन्तु वे अपने को औरों की तुलना में कम समझते हैं। इसी कारण कोई भी ऐरा-गैरा व्यक्ति हमारा अपमान करने का दुस्साहस करता है और हम उसे चुपचाप सह भी लेते हैं।''

इस प्रकार स्वामीजी ने भारतीयों को सिखाया कि अपने देश से कैसे प्रेम और आदर करना चाहिये। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि संसार को पाश्चात्य भौतिकता से अधिक भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है। इस दृढ़विश्वास ने उन्हें

कभी भी पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से चकित नहीं होने दिया और न ही क्षणमात्र को भी हीन भावना से त्रस्त होने दिया। इसी अड़िग विश्वास के कारण उन्होंने भारतीय सभ्यता एवम् संस्कृति के गौरव की उद्घोषणा की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके साहस तथा विश्वास की दृढ़ता से प्रेरित हो पश्चिमी देशों के हजारों व्यक्ति भारत और उसकी सभ्यता के प्रति आकर्षित हुए। ऐतिहासिक धर्म महासभा में स्वामीजी का क्या प्रभाव पड़ा, इस विषय में डॉ. बेसेन्ट ने लिखा था, ''वे संन्यासी के नाम से विख्यात थे, परन्तु वे निस्संदेह एक योद्धा संन्यासी थे और उनकी जो पहली छाप मन पर पड़ती थी वह एक संन्यासी न होकर एक योद्धा की थी। अपने देश तथा जाति के गौरव से गौरवान्वित उनका व्यक्तित्व था। प्रचलित धर्मों में सबसे पुराने धर्म के वे प्रतिनिधि थे।''

धर्म महासभा में दिये स्वामीजी के पहले व्याख्यान ने ही उन्हें इतना प्रसिद्ध कर दिया कि शिकागो के अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों ने उन्हें अपने घर में आमंत्रित किया। सभी उनका आतिथ्य-सत्कार करने के इच्छुक थे।

महासभा के पहले दिन के सत्र के बाद स्वामीजी को एक लखपति सज्जन के आलिशान भवन में ले गये जहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ। उनके मेज़बान ने उनके आराम के लिये हर सम्भव सुख-सुविधा का प्रबन्ध कर रखा था। परन्तु स्वामीजी को न यश की कामना थी और न ही उन्हें शारीरिक आराम की लालसा थी। इस कारण उस ठाटबाट तथा अमरीकी जनता के स्वाभाविक प्रशंसा के बावजूद स्वामीजी को चैन नहीं था। उनके देशवासी कितना कष्ट भुगत रहे हैं यह वे भुला नहीं पाते थे। उनका हृदय भारत की जनता के लिए व्यथित रहता था और वे आरामदायक पलंग पर सो भी नहीं पाये। वे ज़मीन पर लेट कर एक बच्चे के समान सारी रात रोते रहे - और उन्होंने प्रार्थना की, ''ओ माँ ! जब मेरा देश घोर दरिद्रता के दलदल में फँसा है तो किसे यश की कामना है। हम भारतीय अत्यन्त गरीब हैं, लाखों लोग मुट्ठी भर अनाज के अभाव में मर रहे हैं, जबकि निजी सुखसुविधा के लिये यहाँ लोग खुले हाथ धन खर्च करते हैं। भारतीयों को कौन सहारा देगा - कौन उन्हें खाने के लिये अन्न देगा ? माँ ! मुझे बताओ, मैं किस प्रकार उनकी सेवा कर सकता हूँ?'' ऐसा प्रगाढ़ प्रेम था स्वामीजी का भारत के प्रति !

जो कोई भी स्वामीजी के सम्पर्क में आता था उसे वे भारत से प्रेम करने के लिये प्रेरित करते थे। भगिनी क्रिस्टीन ने लिखा है, ''मुझे लगता है जब हमने पहली

बार उनकी ओजस्वी वाणी में 'इंडिया' शब्द सुना था तभी हमारे मन में भारत के प्रति आकर्षण का प्रादुर्भाव हो गया था। पाँच अक्षरों के एक छोट से शब्द में इतना कुछ निहित हो सकता है, विश्वास नहीं होता है। जिन्होंने उसे सुना उनके हृदय में प्रेम स्फुरित करने की उसमें जादुई शक्ति थी।''

लन्दन छोड़ने के पहले स्वामीजी के एक अंग्रेज़ मित्र ने उनसे पूछा, ''स्वामीजी ! सुखसुविधा से पूर्ण वैभवशाली तथा शक्ति संपन्न पाश्चात्य देशों के अनुभव के बाद अब आपको अपनी मातृभूमि कैसी लगती है?'' स्वामीजी ने उत्तर में कहा, ''यहाँ आने के पहले मैं भारत से प्रेम करता था। अब तो भारत की धूल भी मेरे लिये पवित्र बन गई है, वहाँ की हवा भी मेरे लिये पावन हो गई है - अब वह एक पावन भूमि है, एक धर्म स्थल - एक तीर्थ!''

हिंदी ज्युनियर (कक्षा ५ से ७)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मूल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

शिवभाव से जीव सेवा

नरेन्द्र (स्वामी विवेकानंद) के पिताजी, विश्वनाथ दत्त, अपनी उदारता के लिये प्रख्यात थे। उनके दूसरे पुत्र, महेंद्रनाथ दत्त ने उनके विषय में लिखा है. ''निर्धनों की सहायता करने की प्रवृत्ति उनके लिये एक रोग के समान थी।'' अपने मुहल्ले में वे 'दयालु विश्वनाथ' के नाम से जाने जाते थे। किसी को संकट में देख कर वे चुप नहीं बैठ पाते थे। अपने दूर के सम्बन्धियों के बच्चों की शिक्षा का खर्च वे बिना हिचकिचाहट वहन करते थे तथा अपने पड़ोसियों की निर्धनता कम करने के लिये असामान्य रूप से प्रयत्न करते थे। उल्लेखनीय बात यह है कि दान देते समय वे किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते थे। वे अयोग्य लोगों की भी आर्थिक सहायता करते थे। नरेन्द्रनाथ ने जब यह देखा तब एक बार उन्होंने धन के इस घोर दुरुपयोग की ओर अपने पिता का ध्यान आकर्षित किया। इस पर विश्वनाथ ने उन्हें समझाया, ''यह जीवन दुखों से भरा हुआ है। जब तुम बड़े हो जाओगे तब तुम यह स्वयं समझ जाओगे और तब तुम्हें सभी लोगों पर दया आयेगी।''

नरेंद्रनाथ ने इस सहानुभूति की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति श्रीरामकृष्ण के जीवनचरित और उपदेशों में पाई, जिन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) उनकी (नरेंद्र की) स्वाभाविक करुणा को प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति के प्रति प्रेम और आदर सम्मान में परिवर्तित किया। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें सिखाया कि 'दया' करना उचित नहीं है। मनुष्य भगवान का ही जिवन्त रूप है। क्या हम कभी भगवान के प्रति दया दिखाने की सोच भी सकते हैं ? इसके विपरीत भगवान की सेवा एवम् पूजा-अर्चना करने में

हम अपना अहोभाग्य मानते हैं। इस कारण दया शब्द ठीक नहीं है। उचित तरीका तो यह होना चाहिये कि 'जीव' की 'शिव' मान कर सेवा की जाये, तथा देवत्व का प्रतिरूप मान कर मानवता की सेवा की जाये। किसी से भी घृणा नहीं करनी चाहिये क्योंकि एक पापी भी वास्तव में भगवान ही है। एक चोर या एक असभ्य व्यक्ति के भेष में तथा एक धर्मपरायण या सुसंस्कृत व्यक्ति में एक ही नारायण होता है।

स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार अपने गुरु से यह सीखा कि हर व्यक्ति से, चाहे वह पतित ही क्यों न हो, आदर के साथ व्यवहार करना चाहिये। वे कहा करते थे, 'दुष्ट भगवान', 'पापी भगवान'। वे अक्सर कहते थे, ''इस नरक-समान संसार में एक दिन के लिये भी यदि एक मनुष्य को थोड़ा-सा सुख तथा शान्ति कोई दे सकता है-- वही मात्र सत्य है, जीवन भर कष्ट भोगने के बाद यही मैंने सीखा है।''

एक बार, उत्तर भारत के एक पण्डित स्वामीजी को वेदान्त चर्चा में हराने के उद्देश्य से उनके पास आये। परन्तु उस समय स्वामीजी की वेदान्तचर्चा करने की तनिक भी इच्छा नहीं थी। क्योंकि उस समय वे देश भर में फैले अकाल से पीड़ित तड़पते लोगों के बारे में ही निरन्तर सोचते रहते थे। उन्होंने पण्डितजी से कहा, ''पण्डितजी, सबसे पहले चारों ओर फैले संकट को कम करने का प्रयत्न करिये। अपने भूखे देशवासियों की, रोटी के एक टुकड़े के लिये, हृदयविदारक चीखों को शान्त करने की चेष्टा करिये, उसके पश्चात वेदान्त की चर्चा करने के लिये मेरे पास आईयेगा। भूख से मर रहे हज़ारों जनों को बचाने के लिये अपना तन-मन समर्पित करना - यही वेदान्त धर्म का सार है।''

स्वामी तुरीयानंद (हरि महाराज), माऊन्ट आबू में हुई एक घटना के विषय में बताते हैं, जब वे स्वामीजी के बम्बई जाने के पहले, उनसे मिलने गये थे। उस अवसर पर स्वामीजी ने उनसे कहा था, ''हरिभाई ! आपके तथाकथित धर्म के विषय में अभी भी मैं कुछ भी समझ पाने में असमर्थ हूँ।'' जो कुछ वे कहना चाहते थे वह पूरा नहीं कर पाये क्योंकि वे तीव्र भावना से विह्वल हो गये और उनका शरीर काँपने लगा तथा उनके मुख पर गहरी उदासी छा गई। परन्तु वे शीघ्र संयत हो गये

और अपना हाथ अपने हृदय पर रख कर उन्होंने कहा, ''परन्तु मेरा हृदय असीम रूप से विशाल हो गया है और मैंने दूसरों के कष्ट को अनुभव करना सीख लिया है। मेरा विश्वास करो, जब कोई कष्ट में होता है, मैं वेदना से तड़पता हूँ।''

स्वामीजी पुन: भावविव्हल हो गये और उनके आँसू बहने लगे। स्वामी तुरीयानन्द यह देखकर स्तब्ध रह गये। उन्होंने सोचा, ''क्या भगवान बुद्ध ने भी ऐसा अनुभव करके प्रेम के ऐसे शब्द कहे थे ?'' वे यह स्पष्ट समझ पा रहे थे कि करोड़ों लोगों के अनन्त कष्ट स्वामीजी के हृदय में एक तूफान बन उमड़-घुमड़ रहे थे। उनका हृदय मानों एक विशाल पात्र था जिसमें समस्त मानवता के कष्ट-निवारण की औषधि निर्मित हो रही थी।

१३ अप्रैल १८९० को स्वामीजी को, जो उन दिनों वाराणसी में रह रहे थे, अपने गुरूबंधु बलराम बोस के देहावसान का शोक समाचार मिला। उस समाचार से वे इतने शोकातुर हो उठे कि अपने आँसू न रोक सके। प्रमदादास मित्र ने, जो वाराणसी के एक प्रख्यात पंडित थे, उनसे कहा, ''स्वामीजी, आप एक संन्यासी हैं। आपको इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये।''

प्रमदादास बाबू के कथन से स्वामीजी को ठेस लगी। उन्होंने कहा, ''आप क्या कहना चाहते हो? यह सच है कि मैं एक संन्यासी हूँ। पर क्या एक संन्यासी को अनिवार्य रूप से हृदयहीन होना चाहिये ?'' आगे उन्होंने कहा, ''एक सच्चा संन्यासी साधारण जनों की अपेक्षा अधिक कोमल हृदयी होता है। अन्तत: हम मानव हैं। सब से प्रमुख बलराम बाबू मेरे गुरूबंधु थे। जो संन्यास मनुष्य को संवेदनहीन एवम् दयाहीन बनाता है ऐसे संन्यास को मैं नहीं मानता।''

स्वामीजी बहुधा अपने शिष्यों से कहा करते थे कि जो दूसरों का हित करने का प्रयास नहीं करता उसको संन्यासी नहीं कहा जा सकता। वे निरन्तर यह कहते थे कि एक संन्यासी जन्म लेता है दूसरों के लिये, दीन-दुखियों को सहारा देने के लिये - चाहे वह कोई माँ हो जिसने अपना बेटा खो दिया है या कोई दुखियारी विधवा हो।

वह लोगों की सांसारिक कठिनाईयों को दूर करता है, साथ ही उनकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी उनकी सुप्त शक्तियों को जागृत करता है।

एक बार सर्दी के मौसम में स्वामीजी स्वामी निरंजनानन्द के साथ देवघर में प्रियनाथ मुखर्जी के घर अतिथि के रूप में रह रहे थे। एक दिन अपने संन्यासी बन्धु के साथ टहलते हुये स्वामीजी ने दर्द से तड़पते एक व्यक्ति को सड़क के किनारे असहाय लेटा देखा। स्वामीजी उसके पास गये और उन्होंने देखा कि उसे अत्यन्त कष्टदायक पेचिश हो रही थी। उन्हें लगा कि उस व्यक्ति को तुरन्त चिकित्सा की आवश्यकता हैं। परन्तु सबसे पहले उसे सड़क से हटाना था। लेकिन उसको कहाँ ले जाया जाये ? प्रियनाथबाबू के घर का विचार उनके मन में आया। परन्तु स्वामीजी स्वयं ही उस घर में अतिथि मात्र थे। वहाँ इस अपरिचित व्यक्ति को कैसे ले जा सकते थे? प्रियनाथ बाबू को यह अप्रिय लग सकता था। क्षणमात्र को वे हिचकिचाये पर फिर उन्होंने निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो इस असहाय व्यक्ति की सहायता तो उन्हें करनी ही थी। स्वामी निरंजनानंद की सहायता से वे उस व्यक्ति को प्रियनाथ बाबू के घर ले आये, उसे पलंग पर लिटाया, उसकी भलीभाँति सफाई की, उसके कपड़े बदले और उसे गरम सेंक देने लगे। वह व्यक्ति शीघ्र ही ठीक हो गया। प्रियनाथ बाबू का हृदय स्वामीजी के प्रेम के इस विलक्षण रूप को देख कर, उद्विग्न होने के बजाय प्रशंसा से भर गया।

अमरीकी लखपति श्री. जॉन डी. रॉकफेलर ने अपने मित्रों से स्वामीजी के विषय में सुन रखा था। उनके मित्र चाहते थे कि वे इस असाधारण भारतीय संन्यासी से मिलें, पर उन्होंने कुछ न कुछ बहाना बना कर मिलने से मना कर दिया। वे अत्यन्त दृढ़-निश्चयी थे और उनका निर्णय बदलवाना किसी के लिये भी कठिन था। परन्तु, एक दिन अचानक, रॉकफेलर शिकागो में अपने मित्र के घर जा पहुँचे जहाँ स्वामीजी ठहरे हुये थे। जिस खानसामा ने दरवाज़ा खोला, उसे एक ओर ठेल कर उन्होंने हिन्दू संन्यासी से मिलने की अपनी इच्छा प्रकट की। खानसामा उन्हें बैठक कक्ष में ले गया, लेकिन उनके आने की सूचना दी जाये इसकी प्रतीक्षा किये बिना वे

स्वामीजी के कमरे में चले गये। स्वामीजी अपने लिखने की मेज़ के पास बैठे थे और उन्होंने कौन आया था यह देखने के लिये भी नज़र ऊपर नहीं उठाई। यह देख कर रॉकफेलर को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। कुछ समय बाद स्वामीजी ने रॉकफेलर को उनके (रॉकफेलर के) अतीत के विषय में कुछ ऐसी बातें बतायी जो उनके अतिरिक्त दूसरा कोई भी नहीं जानता था, तथा उनको समझाया कि जो सम्पत्ति उन्होंने अर्जित की थी वह उनकी नहीं थी। वे केवल साधन मात्र थे, और उनका यह कर्तव्य था कि वे समस्त संसार का कल्याण करें। भगवान ने उन्हें इतना धन इसीलिये दिया था कि उन्हें लोगों की सहायता करने का अवसर मिले। कोई उनसे इस प्रकार बात करने का दुस्साहस करे यह रॉकफेलर को अप्रिय लगा। वे क्रोध में बिना अलविदा कहे कमरे से बाहर चले गये। परन्तु एक सप्ताह पश्चात पुन: सूचना दिये बिना, वे स्वामीजी के अध्ययन कक्ष में आये और पहले की भाँति उन्हें बैठा देख कर, उनकी मेज़ पर एक कागज़ उन्होंने फेंका जिसमें एक सार्वजनिक संस्था की सहायता के लिये धन की एक विशाल राशी देने की उनकी योजना के विषय में लिखा था।

उन्होंने कहा, ''यह लीजिये, अब तो आप संतुष्ट हो गये होंगे और इसके लिये आप मुझे धन्यवाद दीजिये।'' स्वामीजी ने न तो नज़र उपर ऊठाई और न ही हिले डुले। फिर उन्होंने कागज़ उठा कर शान्ति से पढ़ा और बोले, ''धन्यवाद तो आपको मुझे देना चाहिये।''

सार्वजनिक हित के लिये रॉकफेलर का यह प्रथम बड़ा योगदान था। आगे चल कर वे अपने परोपकारी कार्यों के लिये प्रसिद्ध हो गये।

काशीपुर में स्वामीजी गोपाललाल सील के बगीचे के मकान में रह रहे थे। एक दिन एक युवक ने उनके पास आकर कहा, ''स्वामीजी, मैं अनेक स्थानों पर गया हूँ और अनेक धार्मिक सम्प्रदायों से मेरा निकट का परिचय भी हुआ है - पर मैं देखता हूँ कि अभी मैं यह नहीं समझ पाया हूँ कि सत्य क्या है। प्रतिदिन मैं द्वार बन्द करके ध्यानस्थ हो कर बैठता हूँ परन्तु शान्ति निरन्तर मुझसे दूर है। स्वामीजी ! मुझे

बताइये ऐसा क्यों है?''

स्वामीजी ने धैर्य से उसकी बात सुनने के बाद कहा, ''वत्स, यदि तुम शान्ति पाना चाहते हो तो जो तुम कर रहे हो उसका ठीक उलटा तुम्हें करना होगा। तुम्हें अपना द्वार खोल कर रखना है और चारों ओर देखना है। ऐसा करने पर, तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि कितने लोग तुम्हारी सहायता के लिये अधीरता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनकी सहायता करो, उन्हें खाना खिलाओ, पीने के लिये उन्हें पानी दो, यथासम्भव उनकी सेवा करो। मैं वचन देता हूँ कि तुम्हें शांति अवश्य मिलेगी।''

हिंदी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मूल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

विश्वधर्म का आदर्श

हमारी इन्द्रियाँ चाहे किसी वस्तु को क्यों न ग्रहण करें, हमारा मन चाहे किसी विषय की कल्पना क्यों न करें, सभी जगह हम दो शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया देखते हैं। ये एक दूसरे के विरूद्ध काम करती हैं, और हमारे चारों ओर बाह्य जगत में होनेवाली तथा जिनका अनुभव हम अपने मन में करते हैं, उन जटिल घटनाओं की निरन्तर क्रीडा का कारण हैं। ये ही दो विपरीत शक्तियाँ बाह्य जगत् में आकर्षण-विकर्षण रूप में और अन्तर्जगत में राग-द्वेष या शुभाशुभ के रूप में प्रकाशित होती हैं। हम कितनी ही चीज़ों को अपने सामने से हटा देते हैं और कितनी ही को अपने सामने खींच लाते हैं, किसीकी ओर आकृष्ट होते हैं और किसीसे दूर रहना चाहते हैं। हमारे जीवन में ऐसा अनेक बार होता है कि हमारा मन किसीकी ओर हमें बलात् आकृष्ट करता है, पर इस आकर्षण का कारण हमें ज्ञात नहीं होता और किसी किसी समय किसी आदमी को देखते ही, बिना किसी कारण मन भागने की इच्छा करता है। इस बात का अनुभव सभी को है। और इस शक्ति का कार्यक्षेत्र जितना ऊँचा होगा, इन दो विपरीत शक्तियों का प्रभाव उतना ही तीव्र और उजागर होगा।

धर्म मनुष्य के चिन्तन और जीवन का सब से उच्च स्तर है और हम देखते हैं कि धर्म-जगत में ही इन दो शक्तियों की क्रिया सब से अधिक परिस्फुट हुई है। मानवता को जिस तीव्रतम प्रेम का ज्ञान है, वह धर्म से ही प्राप्त हुआ है, और वह घोरतम पैशाचिक घृणा भी, जिसे मानवता ने कभी अनुभव किया, वह भी धर्म से ही प्राप्त हुई है। संसार ने कभी भी महत्तम शान्ति की जो वाणी सुनी है, वह धर्म-राज्य

के लोगों के मुख से ही निकली हुई है। और जगत ने कभी भी जो तीव्रतम भर्त्सना सुनी है, वह भी धर्म-राज्य के मनुष्यों के मुख से उच्चारित हुई है। किसी धर्म का उद्देश्य जितना ही उच्च होता है, उसका संगठन जितना ही सूक्ष्म होता है, उसकी क्रियाशीलता भी उतनी ही अद्भुत होती है। धर्म-प्रेरणा से मनुष्यों ने संसार में जो खून की नदियाँ बहायी हैं, मनुष्य के हृदय की और किसी प्रेरणा ने वैसा नहीं किया। और धर्म प्रेरणा से मनुष्यों ने जितने चिकित्सालय, धर्मशाला, अन्न-क्षेत्र आदि बनाये, उतने और किसी प्रेरणा से नहीं। मनुष्य-हृदय की और कोई वृत्ति उसे, सारी मानव-जाति की ही नहीं, निकृष्टतम प्राणियों तक की सेवा करने को प्रवृत्त नहीं करती।

धर्म-प्रेरणा से मनुष्य जितना निष्ठुर हो जाता है, उतना और किसी प्रेरणा से नहीं; उसी प्रकार धर्म-प्रेरणा से मनुष्य जितना कोमल हो जाता है, उतना और किसी प्रवृत्ति से नहीं। अतीत में ऐसा ही हुआ है और सम्भवत: भविष्य में भी ऐसा ही होगा। फिर भी विविध धर्मों और संप्रदायों के कलह और कोलाहल, द्वंद्व और संघर्ष, अविश्वास और ईर्ष्या-द्वेष से समय समय पर ऐसी वज्रगम्भीर वाणियाँ निकली हैं, जिन्होंने इस सारे कोलाहल को दबाकर संसार में शान्ति और मेल की तीव्र घोषणा कर दी थी। एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक अपने वज्रगम्भीर आवाहन को सुनने के लिये मानव जाति को विवश किया है। क्या संसार में किसी समय इस शान्ति-समन्वय का राज्य स्थापित होगा ?

प्रबल धार्मिक संघर्ष की इस भूमिका में क्या कभी सामंजस्य का अविच्छिन्न राज्य होना सम्भव है ? वर्तमान शताब्दी के अन्त में इस समन्वय को लेकर संसार में एक विवाद चल पड़ा है। इस समस्या का समाधान करने के लिए समाज में विविध योजनाएँ प्रस्तावित की जा रही हैं और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिये अनेक चेष्टाएँ हो रही हैं। हम सभी लोग जानते हैं कि यह कितना कठिन है। सभी लोग जानते है कि जीवन-संग्राम की भीषणता को, मनुष्य के मन की प्रबल उत्तेजनाओं को कम करना लगभग एक प्रकार से असम्भव है। जीवन का जो स्थूल एवं बाह्यांश

मात्र है, उस बाह्य जगत में साम्य और शान्ति स्थापित करना यदि इतना कठिन है, तो मनुष्य के अन्तर्जगत में शान्ति और साम्य स्थापित करना उससे हज़ार गुना कठिन है।

तुम लोगों को थोडी देर के लिए शब्द-जाल से बाहर आना होगा। हम सभी लोग बाल्य काल से ही प्रेम, शान्ति, मैत्री, साम्य, सार्वजनीन भ्रातृभाव के बारे में अनेक बातें सुनते आ रहे हैं। हम लोग उन्हें तोते की तरह रट लेते हैं और वे मानो हम लोगों के स्वभाव का भाग हो गये हैं। हम ऐसा किये बिना रह नहीं सकते। जिन महापुरुषों ने पहले अपने हृदय में इस महान तत्त्व की उपलब्धि की थी, उन्होंने इन वाक्यों की रचना की है। उस समय बहुत से लोग इसका अर्थ समझते थे। आगे चल कर मूर्ख लोगों ने इन बातों को लेकर उनसे खिलवाड़ आरंभ कर दिया, और धर्म को केवल शब्दों का खेल बना दिया, उसे जीवन में परिणत करने की वस्तु ही नहीं रखा। धर्म अब 'पैत्रिक धर्म', 'राष्ट्रीय धर्म', 'देश धर्म' इत्यादि रूप में परिणत हो गया है।

हम सभी लोग विश्वबंधुत्व की बात सुनते हैं और विविध समाज में उसके प्रचार के लिए कितना उत्साह है, यह भी जानते है। मुझे एक पुरानी कहानी याद आती है। भारतवर्ष में शराबखोरी बहुत ही नीच समझी जाती है। दो भाई थे, उन दोनों ने रात्रि के समय छिपकर शराब पीने का इरादा किया। बगल के कमरे में उनके चाचा सोये थे, जो बहुत निष्ठावान व्यक्ति थे। इसीलिये शराब पीने के पहले वे लोग सलाह करने लगे, ''हम लोगों को चुपचाप पीना होगा, नहीं तो चाचा जाग जायेंगे।'' वे लोग शराब पीते समय बार - बार 'चुप-चुप, जाग जायेगा' की आवाज़ करके एक दूसरे को चुप कराते रहे। इस गड़बड़ में चाचा की नींद खुल गयी। उन्होंने कमरे में घुसकर सब कुछ देख लिया। हम लोग भी ठीक उन मतवालों की तरह शोर करते हैं, ''विश्वबंधुत्व। हम सभी लोग समान हैं, इसलिये हम लोग एक दल का संगठन करें।'' किन्तु ध्यान रहें, ज्यों ही तुमने किसी दल का संगठन किया, त्यों ही तुम समता के विरुद्ध हो गये, और तब समता नामक कोई चीज़ तुम्हारे पास नहीं रह जायेगी।

इस प्रकार हम लोग विश्वबंधुत्व और साम्य के अनुसन्धान में सारी पृथ्वि पर घूमते फिरते हैं। जिस समय तुम लोग कहीं पर इसकी बातें सुनो, मेरा अनुरोध है, तुम थोड़ा धैर्य रखो और सतर्क हो जाओ, क्योंकि इन सब बातों के भीतर प्राय: घोर स्वार्थपरता छिपी रहती है। 'झाड़ों में कभी कभी बादल आता है, बड़ा गर्जन तर्जन करता है, लेकिन बरसता नहीं। किन्तु वर्षाऋतु में बादल गरजता नहीं, वह संसार को जल से प्लावित कर देता है।' इसी प्रकार जो लोग यथार्थ-कर्मी हैं और अपने हृदय से विश्वबंधुत्व का अनुभव करते हैं, वे लम्बी-चौड़ी बातें नहीं करते, न उस निमित्त संप्रदायों की रचना करते हैं, किन्तु उनके क्रिया-कलाप, गतिविधियों और सारे जीवन पर ध्यान देने से यह स्पष्ट समझ में आ जायेगा कि उनके हृदय सचमुच ही मानव-जाति के प्रति बंधुता से परिपूर्ण हैं, वे सबसे प्रेम और सहानुभूति करते हैं। वे केवल बातें न बनाकर काम कर दिखाते हैं - आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। सारी दुनिया लम्बी-चौड़ी बातों से परिपूर्ण हैं। हम चाहते हैं कि बाते बनाना कम हो, यथार्थ काम कुछ अधिक हो।

अभी तक हम लोगों ने देखा कि धर्म के सम्बन्ध में कोई सार्वभौमिक लक्षण खोज निकालना जरा टेढ़ी खीर है। तथापि हम जानते हैं कि ऐसा भाव वर्तमान है। हम सभी लोग मनुष्य तो अवश्य है, किन्तु क्या सभी समान हैं ? निश्चय ही नहीं। कौन कहता है, हम सब समान हैं? केवल पागल। क्या हम बल, बुद्धि, शरीर में समान हैं ? एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा बलवान, एक मनुष्य की बुद्धि दूसरे की अपेक्षा अत्याधिक है। यदि हम सब लोग समान ही होते, तो यह असमानता कैसी। हम लोगों की क्षमता, विद्या, बुद्धि और शारीरिक बल में अंतर होने के कारण निश्चय ही भेद है। फिर भी हम लोग जानते हैं कि समता का यह सिद्धांत हमारे हृदय को स्पर्श करता है। हम सब लोग मनुष्य तो अवश्य हैं, किन्तु हम लोगों में कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियाँ हैं, कोई काले हैं और कोई गोरे - किन्तु सभी मनुष्य हैं, सभी एक मनुष्य जाति के अन्तर्गत हैं। हम लोगों के चेहरे भी कई प्रकार के हैं। दो मनुष्यों का मुँह ठीक एक तरह का हम नहीं देखते, तथापि हम सब लोग मनुष्य हैं।

मनुष्यत्वरूपी सामन्य तत्त्व कहाँ है? मैंने जिस किसी काले या गोरे स्त्री पुरुष को देखा, उन सबके मुँह पर सामान्य रूप से मनुष्यत्व का एक अमूर्त भाव है, मैं उसे भले ही पकड़ न सकूँ, फिर भी मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि वह है। यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है, तो इसी मानवीयता का, जो हम सब में व्याप्त है। विश्वधर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है, जो ईश्वर-रूप से पृथ्वि के सभी धर्मों में विद्यमान है। यह अनन्त काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।'** मैं इस जगत में मणियों के भीतर सूत्र की भाँति वर्तमान हूँ।' इस एक मणि को एक विशेष धर्म, मत या सम्प्रदाय कहा जा सकता है। पृथक् पृथक् मणियाँ एक एक धर्म हैं और प्रभु ही सूत्र रूप से उन सब में वर्तमान हैं। फिर भी अधिकांश लोग इस सम्बन्ध में सर्वथा अज्ञ हैं।

बहुत्व में एकत्व का होना सृष्टि का विधान है। हम सब लोग मनुष्य होते हुए भी परस्पर पृथक् हैं। मनुष्य होने से तुम जीव-जन्तु से पृथक् हो, किन्तु प्राणी होने के नाते स्त्री-पुरुष, जीव-जन्तु और वनस्पति, सभी समान हैं एवं सत्ता के नाते, तुम्हारा विराट विश्व के साथ एकत्व है। ईश्वर है यह विराट सत्ता - उस ईश्वर में हम सभी एक हैं, किन्तु व्यक्त-प्रपंच में यह भेद अवश्य चिरकाल तक विद्यमान रहेगा। हमारे प्रत्येक बाहरी कार्य और चेष्टा में यह भेद सदा ही विद्यमान रहेगा इसलिये विश्वधर्म का यदि यह अर्थ हो कि एक प्रकार के विशेष मत में संसार के सभी लोग विश्वास करें, तो यह सर्वथा असम्भव है। यह कभी हो नहीं सकता। ऐसा समय कभी नहीं आयेगा, जब सब लोगों का मुँह एक रंग का हो जाये। और यदि हम आशा करें कि समस्त संसार एक ही तत्त्व में विश्वास करेगा, तो यह भी असम्भव है, यह कभी नहीं हो सकता। फिर, समस्त संसार में कभी भी एक प्रकार की अनुष्ठान पद्धति प्रचलित हो नहीं सकती। ऐसा किसी समय हो नहीं सकता, अगर कभी हो भी जाय, तो सृष्टी लुप्त हो जायेगी। कारण, **वैचित्र्य ही जीवन की मूल भित्ती है**। हमें आकारयुक्त किसने बनाया है? - वैषम्य ने। सम्पूर्ण साम्यभाव होने से हमारा विनाश अवश्यम्भावी है।

इस संसार की गति किसलिए सम्भव होती है ? खोये हुए संतुलन के लिए। जिस समय इस संसार का ध्वंस होगा, उसी समय चरम साम्य आ सकेगा; अन्यथा ऐसा होना असम्भव है। केवल इतना ही नहीं, ऐसा होना विपज्जनक भी है। हम सभी लोग एक प्रकार का विचार करें, ऐसा सोचना भी उचित नहीं है। ऐसा होने से विचार करने की कोई चीज़ न रह जायेगी। अजायबघर में रखी हुई मिस्र की ममियों की तरह हम सभी लोग एक प्रकार के हो जायेंगे और एक दूसरे को देखते रहेंगे। हमारे मन में कोई भाव ही न उठेगा। यही भिन्नता, यही वैषम्य, संतुलन का यह भंग होना ही हमारी उन्नति का प्राण -हमारे समस्त चिंतन का स्रष्टा है। यह वैचित्र्य सदा ही रहेगा।

विश्वधर्म का अर्थ फिर मैं क्या समझता हूँ ? कोई सार्वभौमिक दार्शनिक तत्त्व, कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्त्व या कोई सार्वभौमिक अनुष्ठान पद्धति, जिसको मानकर सबको चलना पड़ेगा - मेरा अभिप्राय नहीं है। कारण, मैं जानता हूँ बड़ा ही जटिल और आश्चर्यजनक इस विश्व का जो दुर्बोध और विशाल यन्त्र है, वह सदा ही चलता रहेगा। फिर हम लोग क्या कर सकते हैं ? हम इस यन्त्र को अच्छी तरह चला सकते हैं, इसका घर्षण वेग कम कर सकते हैं, इसके चक्कों को चमकीला रख सकते हैं, उसमें तेल देते रह सकते हैं। वह कैसे ? वैषम्य की नैसर्गिक अनिवार्यता को स्वीकार करके। जैसे हम सब ने स्वाभाविक रूप से एकत्व को स्वीकार किया है, उसी प्रकार हमको वैषम्य भी स्वीकार करना पड़ेगा।

हमको यह शिक्षा लेनी होगी कि एक ही सत्य का प्रकाश लाखों प्रकार से होता है और प्रत्येक भाव ही अपनी निर्दिष्ट सीमा के अन्दर प्रकृत सत्य है - हमको यह सीखना होगा कि किसी भी विषय को सैंकडों प्रकार की विभिन्न दृष्टि से देखने पर भी वह एक ही वस्तु रहती है। उदाहरणार्थ, सूर्य को लो। मान लो, कोई मनुष्य भूतल पर से सूर्योदय देख रहा है; उसको पहले एक गोलाकार वस्तु दिखायी देगी। अब मान लो, उसने एक कैमेरा लेकर सूर्य की ओर यात्रा की और जब तक सूर्य के निकट न पहुँचे, तब तक बार बार सूर्य की तस्वीर लेने लगा। एक स्थान से लिया

हुआ सूर्य का चित्र दुसरे स्थानों से लिये हुए सूर्य के चित्र से भिन्न है वह जब लौट आयेगा, तब उसे मालूम होगा कि मानो वे सभी भिन्न-भिन्न सूर्यों के चित्र हैं। परन्तु हम जानते हैं कि वह अपने गन्तव्य पथ के भिन्न-भिन्न स्थानों से एक ही सूर्य के अनेक चित्र लेकर लौटा है। ईश्वर के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही होता है। उच्च अथवा निकृष्ट दर्शन से ही हो, सूक्ष्म अथवा स्थूल पौराणिक कथाओं के अनुसार ही हो, या सुसंस्कृत क्रियाकाण्ड अथवा भूतोपासना द्वारा हो, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक धर्म और प्रत्येक जाति, जाने या अनजाने में अग्रसर होने की चेष्टा करते हुए ईश्वर की ओर बढ़ रही है। मनुष्य चाहे जितने प्रकार के सत्य की उपलब्धि करे, उसका प्रत्येक सत्य भगवान के दर्शन के सिवा और कुछ नहीं है।

मान लो, हम जलपात्र लेकर जलाशय से जल भरने आये। कोई कटोरी लाया, कोई घड़ा लाया, कोई बाल्टी लाया, इत्यादि। अब जब हमने जल भर लिया, तो क्या देखते हैं कि प्रत्येक पात्र के जल ने स्वभावत: अपने अपने पात्र का आकार धारण किया है। परन्तु प्रत्येक पात्र में वही एक जल है - जो सबके पास है। धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है - हमारे मन भी ठीक पूर्वोक्त पात्रों के समान है। हम सब ईश्वर-प्राप्ति की चेष्टा कर रहे हैं। पात्रों में जो जल भरा हुआ है, ईश्वर उसी जल के समान है। प्रत्येक पात्र में भगवद्दर्शन उस पात्र के आकार के अनुसार है। फिर भी वे सर्वत्र एक ही हैं - वे घट घट में विराजमान हैं। सार्वभौमिक भाव का भी हम यही एकमात्र परिचय पा सकते हैं।

सैद्धांतिक दृष्टि से यहाँ तक तो सब ठीक है। परन्तु धर्म के समन्वय-विधान का कार्य रूप में परिणत करने का भी क्या कोई उपाय है ? हम देखते हैं - 'सभी धर्ममत सत्य हैं', यह बात बहुत पुराने समय से ही मनुष्य स्वीकार करता आया है। भारतवर्ष, अलेग्जेन्ड्रिया, युरोप, चीन, जापान, तिब्बत और अंतत: अमेरिका में भी एक समन्वित धर्म को सूत्रबद्ध करने, सब धर्मों को एक ही प्रेम सूत्र में बाँधने की सैकड़ों चेष्टाएँ हो चुकी - परन्तु सब व्यर्थ हुई। कारण, उन्होंने किसी व्यावहारिक प्रणाली का अवलम्बन नहीं किया। संसार के सभी धर्म सत्य हैं, यह तो अनेकों ने

स्वीकार किया है - परन्तु उन सबको एकत्र करने का उन्होंने कोई ऐसा उपाय नहीं दिखाया, जिससे वे इस समन्वय के भीतर रहते हुए भी अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सकें। वही उपाय यथार्थ में कार्यकारी हो सकता है, जो किसी धर्मावलम्बी व्यक्ति की विशिष्टता को नष्ट न करते हुए, उसको औरों के साथ सम्मिलित होने का पथ बता दे। परन्तु अब तक धर्मों के समन्वय के जितने प्रयास हुए हैं, उनमें धर्म सम्बन्धी सभी दृष्टीकोणों को समाहित कर लेने के संकल्प के बावजूद, कार्यरूप में उन्होंने सभी धर्मों को कुछ मतवादों में जकड़ देने की चेष्टा की है। फलस्वरुप उनसे परस्पर कलह, संघर्ष और प्रतियोगिता करनेवाले अनेक नये सम्प्रदायों की ही सृष्टी हुई है।

अत: मैं मनुष्य जाति से यह मान लेने का अनुरोध करता हूँ कि **'कुछ विनाश ना करो।'** यदि हो सके, तो सहायता करो, नहीं तो चुपचाप हाथ उठाकर खड़े हो जाओ और देखो, मामला कहाँ तक जाता है। यदि सहायता न कर सको, तो अनिष्ट मत करो।

हिंदी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मूल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

अपनी मातृभूमि के प्रति हमारा कर्त्तव्य

क्या भारत मर जायेगा ? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायेगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायेगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायेगी, सारे ध्येयवाद का भी लोप हो जायेगा। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती। .. क्या वह कभी मर जायेगा ? वह भारत जो प्राचीन काल से सभी उदात्तता, नीति और आध्यात्मिकता का जन्मस्थान रहा है, वह देश जिसमें ऋषिगण विचरण करते रहे हैं, जिस भूमि में देवतुल्य मनुष्य अभी भी जीवित और जाग्रत हैं, क्या मर जायेगा ? भाईयों ! मैं उस यूनानी ऋषि डायोजीनिस की लालटेन को उधार लेकर आपके पीछे पीछे इस विशाल संसार के शहरों, ग्रामों, मैदानों और जंगलों में चलूँगा - मुझे अगर आप दिखा सकते हो तो ऐसे पुरूष दूसरे देशों में भी दिखा दीजिये।

संसार हमारी भारतमाता का बहुत ही ऋणी है। यदि भिन्न भिन्न जातियों की पारस्पारिक तुलना की जाय तो मालूम होगा कि सारा संसार सहिष्णु एवं निरीह भारतीय का जितना ऋणी है, उतना और किसी का नहीं।... जब ग्रीस का अस्तित्व नहीं था, जब रोम का जन्म भी नहीं हुआ था, जब आधुनिक युरोपियनों के पुरखे जर्मनी के घने जंगलों के अन्दर छिपे रहते थे और जंगली लोगों की तरह अपने शरीर को नीले रंग से रंगा करते थे, तब भी भारतवासी कितने क्रियाशील थे, इस बात की गवाही हमें इतिहास दे रहा है। उससे भी पहले, जिस समय की कोई स्थिति इतिहास नहीं बता सकता, उस अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अब तक न जाने कितनी ही भाव-तरंगें भारत से प्रसूत हुईं हैं, पर वे सब तरंगें अपने आगे शान्ति तथा पीछे आशीर्वाद लेकर अग्रसर हुईं हैं।

क्या तुम यह बता सकते हो कि भारत अन्य सब आर्य जातियों से पिछड़ा

हुआ क्यों रहे ?भारत की बुद्धि क्या कुछ कम है? क्या यहाँ कुशलता की कमी है ? उसका शिल्प, उसका गणित, उसके दर्शनशास्त्र आदि का विचार करने पर क्या तुम किसी विषय में कम कह सकते हो? आवश्यक इतना ही है कि वह मोहनिद्रा से, सैकड़ों सदियों की दीर्घ निद्रा से जाग जाये और संसार की समग्र जातियों के बीच उसका यथार्थ कार्य है, उसे ग्रहण कर ले .. 'त्याग' और 'सेवा' ही भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं - इन दो बातों में भारत को उन्नत करो। ऐसा होने पर सब कुछ अपने आप ही उन्नत हो जायेगा।

ऐ अमर पुत्रों, मेरे देशवासियों, यह हमारा जातीय जहाज़ युगों से सभ्यता को ले आता, ले जाता रहा है और इसने अपनी अतुलनीय सम्पदा से संसार को समृद्ध बनाया है। अनेक गौरवपूर्ण शताब्दियों तक हमारा यह जहाज़ जीवन-सागर में चलता रहा है। और करोड़ों आत्माओं को उसने दु:ख से दूर, संसार के उस पार पहुँचाया है। आज शायद उसमें एक छेद हो गया हो और इससे वह क्षत हो गया हो, यह चाहे तुम्हारी गलती से या चाहे किसी और कारण से। तुम जो इस जहाज़ पर चढ़े हुए हो, अब क्या करोगे ? क्या तुम दुर्वचन कहते हुए आपस में झगड़ोगे ? क्या तुम मिलकर उस छेद को बन्द करने की पूर्ण चेष्टा करोगे ? हम सब लोगों को अपनी पूरी जान लड़ाकर खुशी खुशी उसे बन्द कर देना चाहिये। अगर न कर सकें तो हम लोगों को एक संग डूब मरना होगा। पर किसी के लिए शुभेच्छाएँ छोड़कर बुरे शब्द हमारे मुँह से न निकले।

इस देश में साध्य तो अनेक है, किन्तु साधन नहीं। मस्तिष्क तो हैं, परन्तु हाथ नहीं। हम लोगों के पास वेदान्त मत है, लेकिन उसे कार्य रूप में परिणत करने की क्षमता नहीं है। हमारे ग्रन्थों में सार्वभौम साम्यवाद का सिद्धांत है, किन्तु कार्य में महा भेदवृत्ति है। महा नि:स्वार्थ, निष्काम कर्म भारत में ही प्रचारित हुआ, परन्तु हमारे कर्म अत्यन्त निर्मम और अत्यन्त हृदयहीन हुआ करते है और मासपिण्ड की अपनी इस काया को छोडकर, अन्य किसी विषय में हम सोचते ही नहीं। ... मेरा विश्वास है कि यदि हतश्री, अभागे, निर्बुद्धि, पददलित, भूखे, झगड़ालू और ईर्ष्यालु भारतवासियों को कोई हृदय से प्यार करने लगे तो भारत पुन: जाग्रत हो जायेगा। भारत तभी जागेगा जब विशाल हृदयवाले सैकडों स्त्री-पुरुष भोगविलास और सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर मन, वचन और तने से उन करोड़ों भारतीयों के कल्याण के लिए सचेष्ट होंगे जो दरिद्रता तथा मूर्खता के अगाध सागर

में निरन्तर डूबते जा रहे हैं।

मेरी समझ में देश के जनसाधारण की अवहेलना करना ही हमारा महान राष्ट्रीय पाप है और वह हमारी अवनति का एक कारण है। जब तक भारत की साधारण जनता उत्तम रुप से शिक्षित नहीं हो जाती, जब तक उसे खाने-पीने को अच्छी तरह से नहीं मिलता, जब तक उसकी अच्छी तरह देख-भाल नहीं होती, तब तक कितना ही राजनितिक आन्दोलन क्यों न हो, उससे कुछ प्राप्त न होगा। यदि हम भारत का पुनरुद्धार चाहते हैं, तो हमें अवश्य ही उनके लिए कार्य करना होगा।

ऐ बच्चों, सब के लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो - गरीब, मूर्ख, पददलित मनुष्यों के दु:ख का तुम अनुभव करो, समवेदना से तुम्हारे हृदय का स्पन्दन रुक जाय, मस्तिष्क चकराने लगे, तुम्हें ऐसा प्रतीत हो कि हम पागल तो नहीं बन रहे हैं - फिर ईश्वर के चरणों में अपना दिल खोल दो, तभी शक्ति, सहायता और अदम्य उत्साह तुम्हें मिल जायगा। गत दस वर्षों से मैं अपना मूलमन्त्र घोषित करता आया हूँ - प्रयत्न करते रहो। और अब भी मैं कहता हूँ कि अविराम प्रयत्न करते चलो। जब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखता था तब मैं कहता था - प्रयत्न करते रहो; अब तो थोड़ा उजाला दिखायी दे रहा है, पर अब भी मैं कहता हूँ कि प्रयत्न करते जाओ। वत्स, डरो मत।

एक नवीन भारत निकल पड़े - निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी से, मछुआरे, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दूकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाज़ार से। निकले झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों, पर्वतों से।

अनेक लड़कों की आवश्यकता है जो सब कुछ छोड़-छाड़कर देश के लिए जीवनोत्सर्ग करें। पहले उनका जीवन निर्माण करना होगा, तब कहीं काम होगा। मेरी आशा, मेरा विश्वास नवीन पीढ़ी के नवयुवकों पर है। उन्ही में से मैं अपने कार्यकर्ताओं का संग्रह करूँगा। वे सिंहविक्रम से देश की यथार्थ उन्नति सम्बन्धी सारी समस्याओं का समाधान करेंगे। वर्तमान काल में अनुष्ठेय आदर्श को मैंने एक निर्दिष्य रूप में व्यक्त कर दिया है और उसको कार्यान्वित करने के लिए मैंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है। .. वे एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र का विस्तार करेंगे - और इस प्रकार हम धीरे धीरे समग्र भारत में फैल जायेंगे।

कोई भी सत्य, प्रेम तथा निष्कपटता को बाधा नहीं पहुँचा सकता। तुम अपने मन और वाणी को एक कर पाये हो ? क्या तुम मृत्यु तक को तुच्छ समझकर नि:स्वार्थ भाव से रह सकते हो ? क्या तुम्हारे हृदय में प्रेम है ? यदि ये बातें तुम्हारे भीतर विद्यमान हो तो फिर तुम्हें किसी भी चीज़ से, यहाँ तक की मृत्यु से भी डरने की आवश्यकता नहीं । वत्स, बढ़े चलो। समग्र जगत् ज्ञान के प्रकाश के लिए लालायित है, उस प्रकाश को प्राप्त करने के लिए उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से जगत् हमारी ओर देख रहा है । एकमात्र भारत के पास ही ऐसा प्रकाश विद्यमान है जिसकी कार्यशक्ति न तो इन्द्रजाल में है और न ही छल ही में, वह तो सच्चे धर्म के मर्मस्थल - उच्चतम आध्यात्मिक सत्य के अशेष महिमान्वित उपदेशों में प्रतिष्ठित है। जगत् को इस तत्त्व की शिक्षा प्रदान करने के लिए ही प्रभु ने इस जाति को विभिन्न दु:ख कष्टों के भीतर भी आज तक जीवित रखा है। अब उस वस्तु को देने का समय उपस्थित हुआ है। हे वीरहृदय युवकों, तुम यह विश्वास रखो कि अनेक महान् कार्य करने के लिए तुम लोगों का जन्म हुआ है। कुत्तों की आवाज़ से न डरो, यहाँ तक कि यदि आकाश से प्रबल वज्रपात भी हो तो भी न डरो, उठो - कमर कस कर खड़े हो जाओ - कार्य करते चलो।

उत्साह से हृदय भर लो और सभी ओर फैल जाओ। काम करो, काम करो। नेतृत्व करते समय सब के दास हो जाओ, नि:स्वार्थ हो जाओ और कभी भी एक मित्र को पीछे से दूसरे की निन्दा करते मत सुनो। अनन्त धैर्य रखो, तभी सफलता तुम्हारे हाथ आयेगी। ... सतर्क रहो। जो कुछ असत्य है, उसे पास न फटकने दो। सत्य पर डटे रहो, बस तभी हम सफल होंगे - शायद थोड़ा अधिक समय लगे, पर सफल हम अवश्य होंगे। इस तरह काम करते जाओ कि मानो मैं कभी था ही नहीं। इस तरह काम करो कि मानों तुममें से हरएक के ऊपर सारा काम निर्भर है। भविष्य की पचास सदियाँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं - भारत का भविष्य तुम पर निर्भर है। काम करते जाओ।

मृत्युपर्यंत काम करो - मैं तुम्हारे साथ हूँ, और जब मैं न रहूँगा, तब मेरी आत्मा तुम्हारे साथ काम करेगी। यह जीवन आता है और जाता है - नाम, यश, भोग यह सब थोडे दिन के हैं। संसारी कीड़े की तरह मरने से अच्छा है - कहीं अधिक अच्छा है कि कर्त्तव्य के क्षेत्र में सत्य का उपदेश देते हुए मरो। आगे बढ़ो।

अपने स्नायु को बलवान बनाओ। हमें लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु

की आवश्यकता है। हम लोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नहीं है। अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और मनुष्य बनो।

पहले आदेश पालन करना सीखो। सब पाश्चात्य जातियों में स्वाधीनता का प्रभाव जैसा प्रबल है, आदेश पालन करने का भाव भी वैसा ही प्रबल है। हम सभी अपने आपको बड़ा समझते हैं, इससे कोई काम नहीं बनता। महान उद्यम, महान साहस, तीव्र उत्साह और सबसे पहले आज्ञापालन - ये सब गुण व्यक्तिगत या जातिगत उन्नति के लिए एकमात्र उपाय हैं। और ये गुण हममें हैं ही नहीं।

स्वयं अधिकारी के आगे बढ़े बिना तथा मौत का सामना किये बिना कहीं सिपाही लड़ते हैं? सब कामों में ऐसा ही हाल है। 'सिरदार तो सरदार', सिर दे सको तो नेता हो। हम सब लोग धोखा देकर नेता होना चाहते हैं; इससे कुछ होता नहीं, कोई मानता भी नहीं।

संख्या से कुछ आता-जाता नहीं, धन या दरिद्रता से कुछ आता-जाता नहीं, मनसा-वाचा-कर्मणा यदि ऐक्य हो तो मुट्ठीभर लोग दुनिया को उलट दे सकते हैं - यह विश्वास न भूलना। बाधा जितनी ही होगी उतना ही अच्छा है। बाधा बिना पाये क्या कभी नदी का वेग बढ़ता है ? जो वस्तु जितनी नयी होगी, जितनी अच्छी होगी वह वस्तु पहलेपहल उतनी ही बाधा पायेगी। बाधा ही तो सिद्धि का पूर्व लक्षण है।

यदि तुम सचमुच मेरी सन्तान हो, तो तुम किसी वस्तु से न डरोगे और किसी बात पर न रुकोगे, तुम सिंहतुल्य होगे। हमें भारत को और पूरे संसार को जाग्रत करना है.... मेरी सन्तान को आवश्यकता होने पर एवं अपने कार्य की सिद्धि के लिए आग में कूदने को भी तैयार रहना चाहिये।

दूसरों के लिए रत्तीभर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है; दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे धीरे हृदय में सिंह सा बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ परन्तु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते करते मर भी जाओ तो भी उसे देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी ...काम में लग जाओ - कितने दिनों के लिए है यह जीवन? संसार में जब आये हो तो एक स्मृति छोड़कर जाओ। वरना पेड़ पत्थर भी तो पैदा तथा नष्ट होते रहते हैं।

अरे, मृत्यु जब अवश्यम्भावी है, तो कीट-पतंगों की तरह मरने के बजाय वीर की तरह मरना अच्छा है। इस अनित्य संसार में दो दिन अधिक जीवित रहकर भी क्या लाभ ? It is better to wear out than to rust out. जराजीर्ण होकर थोड़ा थोड़ा करके क्षीण होते हुए मरने के बजाय वीर की तरह दूसरों के कल्याण के लिए लड़कर उसी समय मर जाना क्या अच्छा नहीं है ?

भारतवर्ष का पुनरुत्थान होगा, पर वह शारीरिक शक्ति से नहीं, परंतु आत्मा की शक्ति द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा लेकर नहीं, परंतु शांति और प्रेम की ध्वजा से... मैं अपने सामने यह एक सजीव दृश्य अवश्य देख रहा हूँ कि हमारी यह माता पुन: एक बार जाग्रत होकर अपने सिंहासन पर नवयौवनपूर्ण और पूर्व की अपेक्षा अधिक महामहिमान्वित होकर विराजी है। शान्ति और आशीर्वाद के वचनों के साथ सारे संसार में उसके नाम की घोषणा कर दो।

हे भाईयों, हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा। अब सोने का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है। यह देखिये, भारतमाता धीरे धीरे आँखें खोल रही हैं। वे कुछ देर सोयी थीं। उठिये, उन्हें जगाइये और पहले से अधिक महागौरवमण्डित करके भक्तिभाव से उन्हें अपने चिरन्तन सिंहासन पर प्रतिष्ठित कीजिये।

हिंदी सिनियर (कक्षा ८ से १०)

विशेष सूचना :

१. प्रत्येक विद्यार्थी को ३ मिनट दिये जायेंगे।

२. कृपया निर्धारित विषय तक सीमित रहिए।

३. निर्णायकों का मूल्यांकन

(अ) विषय : ३० अंक (ब) स्पष्टता : १० अंक (क) प्रभाव : १० अंक

आप अपने भाग्यविधाता

अपने जीवन में मैंने जो एक श्रेष्ठतम पाठ पढ़ा, वह यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिये, जितना कि उसके लक्ष्य के विषय में। इस एक तत्त्व से मैं सर्वदा बड़े बड़े पाठ सीखता आया हूँ। और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है - साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना कि साध्य की ओर।

साधारणत: मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है, यह न जमा, तो उन सब को ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर भाग्य नामक एक भूत की कल्पना करता है और उसी को उन सब के लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिंत हो जाता है। पर प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नामक यह वस्तु है क्या और रहती कहाँ है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही पाते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो भी कोई दूसरा दोषी नही; और यदि हमारा भाग्य अच्छा हो, तो भी कोई दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बहती है। जिन जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल नहीं खुले रहते, उन पर वायु नहीं लगती। तो क्या वायु का दोष है ?

कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता।

अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान हो जाओ। सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो - यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे भीतर विद्यमान है।

अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। (गतस्य शोचना नास्ति) - सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत्-कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हज़ारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।

अपनी वर्तमान अवस्था के जिम्मेदार हम ही हैं; और जो कुछ हम होना चाहें, उसकी शक्ति भी हमीं में है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे पूर्व कर्मों का फल है; तो यह निश्चित है कि जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं, वो हमारे वर्तमान के कार्यों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अतएव हमें यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किये जाये। यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा का भाव चारों ओर बाहर भेजो, तो वह चक्रवृद्धिव्याज सहित तुम पर आ गिरेगा। दुनिया की कोई ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हे उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे।

हम लोग जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ कार्य करते हैं वही कुछ समय बाद सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है, मानो बीजरूप बन जाता है और वही इस शरीर में अव्यक्त रूप से है, और फिर कुछ समय बाद प्रकाशित होकर फल भी देता है। मनुष्य का सारा जीवन इसी प्रकार गढ़ता है। मनुष्य और किसी भी नियम से बद्ध नहीं है। वह अपने ही नियम में, अपने ही जाल में अपने आप बँधा हुआ है। पवित्रता, धैर्य और दृढ़ता, इन्ही तीन गुणों से सफलता मिलती है, और सर्वोपरि है प्रेम।

इस जगत् में श्रेय का मार्ग सब से दुर्गम और पथरीला है। यह आश्चर्य की बात है कि बहुत लोग सफलता प्राप्त करते हैं, पर इसमें आश्चर्य नहीं कि बहुत से लोग असफल होते हैं। सहस्त्रों ठोकरें खाकर चरित्र का संगठन होता है।

केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; असत् संस्कार रोकने का बस यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिये कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का - कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है, और ये अभ्यास नये और सत् अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं। चरित्र बस पुनः-पुनः अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का पुनः-पुनः अभ्यास ही चरित्र का पुनर्गठन कर सकता है।.... ब्रह्मचर्यवान मनुष्य के मस्तिष्क में प्रबल शक्ति - महती इच्छाशक्ति संचित रहती है।

यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। एक मूर्ख भी किसी विशेष अवसर पर बहादुर बन जाता है। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल में वे ही ऐसी बातें हैं; जिनसे एक महान पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटे से छोटे मनुष्य को भी किसी न किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में बड़ा तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् रहता है।

बिना किसी बदले की आशा से संसार में भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित होता जायेगा। हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जायेगा, जब तक कि हम पवित्रतम मनुष्य के रूप में परिणत नहीं हो जाते।

दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण। इसलिये आओ, हम अपने आपको पवित्र बना लें। आओ, हम अपने आपको पूर्ण बना लें।

शिकायतों और झगड़ों से क्या लाभ ? उससे हम कुछ अधिक अच्छे तो बन नहीं जायेंगे। जो अपने भाग्य में पड़ी हुई सामान्य वस्तु के लिए भी बड़बड़ाता है, वह

हरएक वस्तु के लिए बड़बड़ायेगा। इस प्रकार सर्वदा बड़बड़ाते रहने से उसका जीवन दु:खमय हो जायेगा और सर्वत्र असफलता ही उसके हाथ लगेगी। परन्तु जो मनुष्य अपने कर्तव्य को पूर्ण शक्ति से करता रहता है, वह ज्ञान एवं प्रकाश का भागी होगा और उसे अधिकाधिक ऊँचे कार्य करने के अवसर प्राप्त होंगे। यह दुनिया एक व्यायामशाला है, जहाँ हम अपने आपको बलवान बनाने के लिए आते हैं। इस संसार-यंत्र से दूर न भागो, वरन् इसके अन्दर ही खड़े होकर कर्म का रहस्य सीख लो। भीतर रहकर कुशलता से कर्म करके बाहर निकल आना सम्भव है।

दुर्भाग्य की बात है कि अधिकांश व्यक्ति इस जगत् में बिना किसी आदर्श के ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते हैं। जिसका एक निर्दिष्ट आदर्श है, वह यदि एक हज़ार भूलें करे तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं वह दस हज़ार भूलें करेगा। अतएव एक आदर्श रखना अच्छा है। मेरा आदर्श अवश्य ही थोड़े से शब्दों में कहा जा सकता है और वह है - मनुष्य जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे प्रकट करने का उपाय बताना।

सब प्रकार के शरीरों में मानव-देह ही श्रेष्ठतम है; मनुष्य ही श्रेष्ठतम जीव है। मनुष्य सब प्रकार के निकृष्ट प्राणियों से श्रेष्ठ है। मनुष्य से श्रेष्ठतर जीव और कोई नहीं।

मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिये संघर्ष करता है। और यह प्रकृति बाह्य और आन्तरिक दोनों है और जब हम विश्व-इतिहास का मनन करते हैं, तो पाते हैं कि जब जब किसी राष्ट्र में ऐसे लोगों की संख्या मे वृद्धि हुई है, तब तब उस राष्ट्र का अभ्युदय हुआ है।

समस्त स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन अपने भीतर काम करने वाली आध्यात्मिक शक्तियों के व्यक्त रूप होते हैं, और यदि ये बलशाली और सुव्यवस्थित हो, तो समाज अपने आपको उस तरह से ढाल लेता है। हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति की साधना स्वयं करनी होती है, कोई दूसरा रास्ता नहीं है। और यही

बात राष्ट्रों के लिए भी सही है। ... संस्थाओं के दोष दिखाना आसान होता है, चूँकि सभी संस्थाएँ थोडी-बहुत अपूर्ण होती है, लेकिन मानवजाति का सच्चा कल्याण करनेवाला तो वह है, जो व्यक्तिओं को, वे चाहे जिन संस्थाओं में रहते हों, अपनी अपूर्णताओं से ऊपर उठने में सहायता देता है। व्यक्ति के उत्थान से देश और संस्थाओं का भी उत्थान अवश्य होता है। तुमको अन्दर से बाहर विकसित होना है। तुम्हारी आत्मा के सिवा और कोई गुरू नहीं है।

जो कुछ प्रकृति के विरूद्ध लढ़ाई करता है वह चेतन है। उसमें ही चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने लगो तो देखोगे कि वह भी अपनी जीवनरक्षा के लिए एक बार लड़ाई करेगी। जहाँ चेष्टा या पुरुषकार है, जहाँ संग्राम है, वही जीवन का चिह्न और चैतन्य का प्रकाश है। मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध युद्ध और संघर्ष करना प्रारम्भ करता है। वह अनेक भूलें करता है, कष्ट भोगता है। परन्तु अन्त में प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है और अपनी मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

हर काम को तीन अवस्थाओं में से गुज़रना होता है - उपहास, विरोध और फिर स्वीकृति। जो मनुष्य अपने समय से आगे विचार करता है, लोग उसे निश्चय ही गलत समझते हैं। इसलिये विरोध और अत्याचार हम सहर्ष स्वीकार करते हैं, परन्तु हमें दृढ़ और पवित्र होना चाहिए और भगवान में अपरिमित विश्वास रखना चाहिए, तब ये सब लुप्त हो जायेंगे।

Ours not to reason why, ours but to do and die.

क्यों? यह प्रश्न करने का हमें अधिकार नहीं, हमें तो अपना कार्य करते करते प्राण छोडनें हैं। साहसी बनो और इस बात का विश्वास रखो कि हमारे और तुम्हारे द्वारा महान कार्य होने हैं। भगवान ने बड़े बड़े कार्य करने के लिए हमें निर्दिष्ट किया है और हम उन्हें करेंगे। संस्कृत में कहावत है, जो कापुरुष और मूर्ख है, वह कहता है, 'यह भाग्य है।' लेकिन वह बलवान पुरुष है, जो खड़ा हो जाता है और कहता है, 'मैं अपने भाग्य का निर्माण करुँगा।' कठिनाई लगातार अभ्यास द्वारा दूर की जा सकती है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक हम अपने आपको दुर्बल न बनायें, तब तक हमको कुछ नहीं हो सकता।

एक बार मैं हिमालय के आँचल में यात्रा कर रहा था और सामने लम्बी सडक का विस्तार था। हम गरीब साधुओं को कोई ढोनेवाला नहीं मिल सकता था, इसलिये पूरा मार्ग पैदल चल कर पार करना था। हम लोगों के साथ एक वृद्ध था। उसने कहा, ''ओह, महाशय, इसे कैसे पार किया जाय, मैं अब जरा भी नहीं चल सकता, मेरी छाती फट जायेगी।'' मैंने उससे कहा, ''नीचे अपने पाँवो को देखिये।'' उसने ऐसा ही किया, और मैंने कहा, ''आपके पाँवों के नीचे जो सड़क है, उसे आप पार कर चुके हैं और आपके सामने जो सड़क दिखायी पड़ रही है वह भी वही है; और वह भी शीघ्र ही आपके पाँवों के नीचे आ जायेगी।''

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्त: प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन:संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।

सब के पास जा जा कर कहो, ''उठो, जागो और सोओ मत, सम्पूर्ण अभाव और दु:ख नष्ट करने की शक्ति तुम्हीं में है; इस बात पर विश्वास करने ही से वह शक्ति जाग उठेगी।'' ... यदि तुम भी सोच सको कि हमारे अन्दर अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान, अदम्य उत्साह वर्तमान है, और अपने भीतर की शक्ति को जगा सको तो तुम भी मेरे समान हो जाओगे।